

आशीर्वाद होता है एक ऐसा मन जो चुप है, पर बेहद सतर्क है, सावधान है; यह धरती सरीखा होता है, असीम संभावनाओं से समृद्ध।

-जे. कृष्णमूर्ति
'सुखी वही जो कुछ भी नहीं' से

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : 8 अंक : 2

दिसंबर 2013

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादन : विजय छाबड़ा

सहयोग : अरविंद शुक्ल

कृष्णमूर्ति साहित्य :

| | पृष्ठ संख्या |
|--|--------------|
| सांप्रदायिकता की भावना से, राष्ट्रवाद से अपना नाता तोड़ लें | 4 |
| अनुभव और पहचान के पार | 11 |
| बीच के पन्ने | 16-17 |
| अंतर्दृष्टि और कर्म | 24 |

मंथन और संवाद :

| | |
|--|----|
| ‘वस्तुओं’ पर ध्यान लगाना | |
| पागलपन की ओर ले जा सकता है | 29 |
| हिमालय के खुशनसीब माहौल में संवाद व मंथन | 31 |

| | | | |
|------------------|--------------|---------|-------------|
| वार्षिक शुल्क | : रु. 100.00 | दो वर्ष | रु. 175.00 |
| पांच वर्ष के लिए | : रु. 400.00 | आजीवन | रु. 1000.00 |

जब तक अपनी पहचान को हम किसी मुल्क, जाति या धर्म से जोड़े हुए हैं, तब तक फिरकापरस्ती तो हमारे खून में मौजूद है। 'किसी बड़ी शै से पहचान जोड़कर हमें लगता है कि हम कुछ हैं'। परिसंवाद के एक अंक में 'पहचान के दुःस्वप्न' का जिक्र आया था, पहचान के इसी चक्कर में कुछ खास होने का भ्रम पलने लगता है। सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद एक ही सिक्के के दो पहलू ही तो हैं, एक ही रोग के दो लक्षण।

क्यों गजब की तकनीकी तरक्की के बावजूद इंसान इतना बेसहारा-सा, उलझा-उलझा है, भयभीत; और उस भय को वह मानो छुपाता फिर रहा हो, अकड़ या तथाकथित आत्मविश्वास के मुखौटे के पीछे?

क्या हम अपने से कभी कोई प्रश्न गहरे से पूछते हैं, एक पीड़ा के साथ, एक तड़प के साथ? या किन्हीं प्रभावों में बह जाने में, किसी बाहरी आंदोलन में शामिल हो जाने में ही एक आशा, एक तृप्ति खोज लेते हैं? समय और विचार के क्षेत्र में पायी गयी हर तृप्ति क्या अपने पीछे-पीछे, अपने साये में एक निर्भरता को जन्म नहीं देती, और हर निर्भरता, हर पहचान भ्रष्टाचार को?

जहाँ तक अपनी समझ में आता है, मनसा, वाचा, कर्मणा जीने की लयबद्धता, कर्म-व्यवहार में प्रामाणिकता तो प्रज्ञा के आलोक में ही संभव है, जिसमें कोई विभाजन नहीं; और प्रज्ञा का भला किसी पहचान से क्या रिश्ता, समय-विचार की सीमाबद्धता से क्या रिश्ता?

सांप्रदायिकता की भावना से, राष्ट्रवाद से अपना नाता तोड़ लें

भाषण देने की बजाय, मैं सवालियों का जवाब देने जा रहा हूँ, जितने भी मुमकिन हो सकें, लेकिन उससे पहले मैं सवालियों के जवाब देने के बारे में कुछ कहना चाहूँगा। यूँ तो हम कोई भी सवाल कर सकते हैं; लेकिन सही जवाब के लिए सवाल का सही होना भी तो ज़रूरी है। अगर सवाल संजीदा है जिसे किसी गंभीर आदमी ने पूछा है, एक ऐसा आदमी जो सचमुच ही किसी गंभीर मसले का हल ढूँढ निकालने में जुटा है, तो स्पष्ट है कि एक ऐसा जवाब उभर कर आएगा जो सवाल के ऐन मुताबिक होगा। लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि बहुत सारे सवाल भेजे जाते हैं, कई बार तो बिलकुल बे-सिर-पैर के, और फिर मांग की जाती है कि सबके जवाब दिए जाएं। मेरे ख्याल में बनावटी सवाल पूछना और फिर गंभीर जवाब की उम्मीद करना, यह तो सिर्फ वक्त खराब करने वाली बात है। बहुत सारे सवाल आए हैं, मैं एक ऐसे नुकते-नज़र से उनका जवाब देने की कोशिश करूँगा जो मेरी नज़र में बहुत गंभीर है। यहां क्योंकि बहुत थोड़े से लोग हैं इसलिए मैं यह कहना चाहूँगा कि अगर कहीं किसी को लगे कि जवाब बहुत स्पष्ट नहीं है तो आप मुझे टोक सकते हैं, ताकि आप और हम मिलकर उस सवाल पर चर्चा कर सकें।

प्र. : एक साधारण भलामानस सांप्रदायिक समस्या को हल करने के लिए क्या कर सकता है?

के. : इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया भर में अलगाव की भावना बढ़ रही है। हर जंग के बाद यह अलगाव और भी बढ़ जाता है, थोड़ी और ज़्यादा कौमपरस्ती, कुछ और खुदमुख्तियार सरकारें, और भी ऐसा ही कुछ। सांप्रदायिक तनाव की यह समस्या भारत में खास तौर पर बढ़ती जा रही है। क्यों? पहली

बात तो यह है कि लोग यहां नौकरी-धंधे की तलाश में लगे हैं, इसमें कोई शक नहीं। जितनी ज़्यादा अलग-अलग सरकारें होंगी, उतनी ही ज़्यादा नौकरियां भी होंगी। लेकिन यह बहुत ही कमअक्ली की नीति है, है कि नहीं? क्योंकि संसार का ज़्यादा से ज़्यादा झुकाव अब एक फेडरेशन की ओर है, नज़दीक आने और जुड़ने में है, न कि बिखराव में। कोई भी भला आदमी जो इस बारे में सचमुच ही सोचता है—यह हालत केवल भारत की ही नहीं है, दुनिया भर में यही हो रहा है—उसे पहले कौमपरस्ती से आज़ाद होना होगा, सिर्फ़ सियासी मामलों में ही नहीं, अपने एहसास, सोच-विचार और एक्शन में भी। आखिरकार फिरकापरस्ती कौमपरस्ती की ही एक शाखा है। किसी एक देश, नस्ल, ग्रुप या विचारधारा विशेष के साथ बँधना लोगों को बांटने वाली बात ही है, आदमी-आदमी के बीच टकराव और नफरत पैदा करने वाली बात। ज़ाहिर है कि यह तो संसार के मसलों का हल नहीं। सो हममें से हर कोई यही कर सकता है कि वह खुद फिरकापरस्ती से आज़ाद हो जाए। हम यही कर सकते हैं कि हम ब्राह्मण न रहें, किसी भी जाति या देश से बँधे न रहें। लेकिन यह बहुत ही मुश्किल काम है, क्योंकि परंपरा, व्यवसाय या अपनी कुछ प्रवृत्तियों के ज़रिये ही हम कर्म के किसी खास ढर्रे में संस्कारित होते हैं और उस ढर्रे से खुद को अलग करना एक बेहद दुश्वार काम है। हम छूटना भी चाहें तो परिवार की परंपराएं, मज़हबी रंग-ढंग, ये सब रोकते हैं हमें। शुभकामनाओं से भरे हुए लोग ही हैं जो सचमुच ही भलाई की सोचते हैं, जो दोस्ती की चाहना करते हैं; और सिर्फ़ ऐसे ही लोग हैं जो गड़बड़ी फैलाने वाले इन सारे दायरों से खुद को आज़ाद कर लेते हैं।

तो मुझे ऐसा लगता है कि इस सांप्रदायिक टकराव को खत्म करने की शुरूआत हमें खुद से ही करनी होगी, हमें किसी दूसरे का इंतज़ार नहीं करना है कि कोई कानून बने या सरकार कोई कदम उठाए। क्योंकि ज़बरदस्ती या कानूनी बाध्यता से आखिर यह मसला हल होने वाला नहीं है। सांप्रदायिकता की

भावना, अलगाववाद, किसी विचारधारा या वर्ग-विशेष से या धर्म से जुड़ाव आखिरकार इनसानों के बीच टकराव ही खड़े करता है। मित्रता की भावना थोपी नहीं जा सकती, बेशक वह तो कोई हल नहीं होगा। तो हम सबके लिए, हर शख्स के लिए इससे बाहर आने का रास्ता यही है कि हम सांप्रदायिकता की भावना से, राष्ट्रवाद से अपना नाता तोड़ लें। क्या इस मुश्किल से बाहर आने का यही एक रास्ता नहीं है?

क्योंकि जब तक दिलो-दिमाग खुलते नहीं, दोस्ती के लिए राज़ी नहीं होते, खाली दबाव डालने या कानून बनाने से मसले का हल नहीं होगा। तो ज़ाहिर है कि यह हम सबकी ज़िम्मेदारी है कि जिस तरह हम जी रहे हैं, किसी खास समुदाय में, किसी राष्ट्र विशेष में, लोगों के किसी खास ग्रुप में, तंग-नज़री की, अलगाव की उस भावना से बाहर आएँ, उससे अपना नाता तोड़ें।

मुश्किल यह है कि हममें से ज़्यादातर लोग शिकायतों से भरे हैं। ज़्यादातर लोग इस आदर्श से सहमत होते हैं कि हमें अतीत से नाता तोड़कर एक नये संसार का निर्माण करना चाहिए, कुछ नए विचार होने चाहिए, वगैरह-वगैरह। लेकिन जैसे ही हम घर लौटते हैं तो माहौल कुछ इस तरह हम पर छा जाता है कि हम फिर से पुराने गढ़े में गिर जाते हैं—यही सबसे बड़ी मुश्किल है, है या नहीं? बौद्धिक तौर पर हम मान लेते हैं कि सांप्रदायिक तनाव एक बेहूदा चीज़ है, पर बहुत थोड़े ही लोग हैं जो इतना समय निकालते हैं कि उस पर बैठकर सोचें कि यह सारा मामला है क्या, और उन कारणों को ढूँढ निकालें जो उसे बढ़ावा देते हैं। किसी भी खास ग्रुप के साथ जुड़ना, भले ही वह किसी सियासी एक्शन से जुड़ा हो या किसी सामाजिक गतिविधि से, वह अलगाव ही पैदा करता है, टकराव। असल इंकलाब किसी विचारधारा में से नहीं निकलता, क्योंकि विचारधारा पर आधारित इंकलाब कई धरातलों पर टकराव खड़े कर देता है और इस तरह वह उसी पुरानी व्यवस्था की ही निरंतरता होती

है। स्पष्ट ही सांप्रदायिक तनाव तभी खत्म हो सकता है जब हम किसी खास विचारधारा, नैतिकता या संगठित धर्म—चाहे वह ईसाई धर्म हो या हिंदू धर्म या कुछ और—के अलग-थलग एक्शन के तमाम बेतुकेपन को देख लेते हैं।

श्रोता : सुनने में यह सब बहुत अच्छा लगता है, लेकिन हकीकत में इसे कर पाना बहुत ही मुश्किल है। और फिर जैसा कि आपने कहा घर पहुंचते ही ज़्यादातर लोग एकदम बदल जाते हैं, वैसे नहीं रहते जैसे कि अब यहां पर हैं। हालांकि हम आपको सुन सकते हैं और जो आप कहते हैं उसके बारे में सोच सकते हैं, लेकिन उससे क्या होने वाला है यह हममें से हरएक पर निर्भर करता है। यह 'लेकिन' हमेशा बना रहता है।

श्रोता : संगठित धर्म से दूर हटने की यह बात खुद में ही एक धर्म बन सकती है।

के. : कैसे, सर?

श्रोता : मिसाल के लिए, न तो ईसा और न ही रामकृष्ण परमहंस यह चाहते थे कि उनका कोई अलग से धर्म बने; लेकिन उनकी शिक्षाओं के सार को भुलाकर लोगों ने उन्हीं के इर्द-गिर्द एक धर्म खड़ा कर दिया।

के. : हम ऐसा क्यों करते हैं? कहीं इसलिए तो नहीं कि हम सामूहिक सुरक्षा चाहते हैं, हम यह महसूस करना चाहते हैं कि हम सुरक्षित हैं?

श्रोता : क्या सभी संगठन स्वभाव से ही अलगाववादी होते हैं?

के. : अलगाववादी तो वे होंगे ही।

श्रोता : क्या परिवार से जुड़ने में भी कोई खराबी है?

के. : आप 'खराबी' शब्द को बीच में ला रहे हैं, जो मैंने कभी कहा ही नहीं।

श्रोता : हम परिवार की अपनी संस्था को छोड़ रहे हैं। यह संस्था बहुत पुरानी है।

के. : अगर इसका ग़लत इस्तेमाल होता है तो निश्चित ही इसे जाना होगा।

श्रोता : तो किसी संस्था का अपने आप में ही अलगाववादी या विघटनकारी होना ज़रूरी नहीं है?

के. : ज़ाहिर सी बात है। डाकघर तो अलगाववादी नहीं, क्योंकि सभी समुदाय उसका इस्तेमाल करते हैं। वह तो सबका सांझा है।

तो क्यों किसी व्यक्ति को किसी चीज़ से जुड़ना इतना अहम लगता है—किसी धर्म, सोसायटी, संस्था या फिर किसी क्लब से? क्यों है ऐसा?

श्रोता : संबंध के बिना तो कोई जीवन ही नहीं है।

के. : ज़ाहिर है; लेकिन हमें अलगाव की तलाश क्यों रहती है?

श्रोता : कुछ संबंध तो स्वाभाविक हैं और कुछ बिल्कुल गैर-कुदरती। परिवार एक कुदरती संबंध है।

के. : मैं सिर्फ यह पूछ रहा हूँ कि किसी खास ग्रुप के साथ जुड़ने की यह ख्वाहिश, यह ललक क्यों है? यूँ ही बयानबाज़ी नहीं, ज़रा मिलकर विचार करते हैं इस पर। ऐसा क्यों है कि मैं किसी खास जाति या कौम से जुड़ा हुआ हूँ? क्यों मैं खुद को हिंदू कहता हूँ? अलग-थलग होने की यह भावना हममें कहां से आई है?

श्रोता : स्वार्थ। सत्ता का अहंकार।

के. : एक या दो शब्दों में निबटा देना तो कोई जवाब नहीं है। तो लक्ष्य की कोई शक्ति है जो प्रेरणा देती है, कोई ललक, कोई मंशा, जिसके चलते हम किसी खास ग्रुप से जुड़ जाते हैं। क्यों? इसका पता लगाना क्या अहम बात नहीं? क्यों कोई खुद को जर्मन कहता है, अंग्रेज़, हिंदू या फिर रूसी? क्या यह बात साफ नज़र नहीं आती कि उसके पीछे यह ख्वाहिश है किसी से

अपनी पहचान जोड़ने की, क्योंकि किसी बड़ी चीज़ से पहचान जोड़कर हमें लगता है कि हम कुछ हैं? यही बुनियादी वजह है।

श्रोता : हमेशा नहीं। मिसाल के लिए, एक हरिजन एक निचली श्रेणी से जुड़ा है, उसे उसमें कुछ गर्व महसूस नहीं होता।

के. : लेकिन हम उसे वहीं रखते हैं। क्यों हम उसे अपनी विशेष जाति में आने का न्यौता नहीं देते?

श्रोता : हम कोशिश कर रहे हैं उसे बुलाने की।

के. : लेकिन क्यों कोई शख्स किसी विशालतर के साथ अपनी पहचान जोड़ लेता है, किसी राष्ट्र, किसी विचार के साथ जिसका फैलाव उससे कहीं आगे है?

श्रोता : क्योंकि जिस घड़ी व्यक्ति पैदा होता है, तभी से कुछ विचार उसके दिमाग में भरने शुरू कर दिए जाते हैं। फिर वे विचार जड़ें फैला लेते हैं, और वह सोचने लगता है कि वह तो उनका दास है! दूसरे शब्दों में, वह संस्कारों में जकड़ जाता है।

के. : बिल्कुल। वह संस्कारों में इतना जकड़ जाता है कि अपनी दासता से छूट नहीं पाता। किसी विराट के साथ हम पहचान जोड़ लेते हैं क्योंकि हम महफूज़, सुरक्षित होना चाहते हैं, किसी विचार या एक्शन की किसी धारा से जुड़ कर। यह एकदम ज़ाहिर है, है कि नहीं? अपने आप में हम कुछ भी नहीं, डरे हुए, अकेला रह जाने के खौफ से घबराए हुए, और इसीलिए हम जुड़ना चाहते हैं किसी बड़ी शै से, और पहचान के इसी चक्कर में हम कुछ खास होने लगते हैं। दुनिया भर में यही हो रहा है। यह कोई मेरी निजी राय नहीं है, ठीक यही तो है जो हो रहा है। पहचान चाहे धार्मिक हो या राष्ट्रीय, गंभीर संकट के समय यह और भी भड़क उठती है; यह बहुत बड़ा मसला है, सिर्फ भारत में ही नहीं, हर कहीं है, दुनिया भर में फैला हुआ। किसी खास ग्रुप के साथ पहचान की यह भावना जो धीरे-धीरे एक अलग ही रूप ले लेती है और इस तरह लोगों में टकराव खड़े करती है, नफरत फैलाती है। इसलिए इस सवाल का जवाब

देते हुए हमें सांप्रदायिकता के साथ-साथ राष्ट्रवाद पर भी तवज्जो देनी होगी, और इसमें किसी संगठित धर्म विशेष के साथ पहचान जोड़ने का मसला भी शामिल होगा।

श्रोता : आखिर क्यों हम किसी से अपनी पहचान जोड़ते हैं?

के. : बस इस वजह से कि हम सोचते हैं कि अगर हम किसी से अपनी पहचान नहीं जोड़ेंगे तो हम भ्रमित हो जाएंगे, भटक जाएंगे; और इसी खौफ के मारे हम किसी ना किसी से जुड़ जाया करते हैं, महफूज़ होने के लिए।

श्रोता : डर, लेकिन किस बात का? डर की बजाय क्या इसे अज्ञान नहीं कहेंगे?

के. : आप इसे जो चाहे कहें, डर या अज्ञान, बात एक ही है। असल मुद्दा तो यह है कि क्या आप और मैं इस डर से मुक्त हो सकते हैं? क्या हम अलग-थलग हुए बिना, एकाकी खड़े रह सकते हैं? एकाकी होने में अलगाव नहीं, अकेलापन ही अलगाव लाता है। बेशक यही एक ढंग है इस मसले से निपटने का; क्योंकि व्यक्ति एक वैश्विक प्रक्रिया है, कोई अलग-थलग प्रक्रिया नहीं है। और जब तक व्यक्ति अपने आप को किसी न किसी ग्रुप या धड़े से जोड़ते रहेंगे, उन्होंने अलग-थलग, खास बने ही रहना है, और यूं वे लाज़िमी तौर पर तनाव, टकराव और नफरत ही फैलाते रहेंगे।

बैंगलोर, 4 जुलाई, 1948

अनुवाद : बलराम

अनुभव और पहचान के पार

पुपुल जयकर (पु) : कृष्णजी, क्या हम चेतना और उसका मस्तिष्क की कोशिकाओं के साथ जो संबंध है, इस पर चर्चा कर सकते हैं? हमें आपकी वार्ताओं से लगता है कि आप इन दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। क्या दोनों की प्रकृति एक ही है, या ऐसा कुछ है जो इनकी भिन्नता को पहचान देता है?

कृष्णमूर्ति (कृ) : आप पूछ रहे हैं : चेतना और मस्तिष्क की कोशिकाओं के बीच क्या संबंध है? उनकी प्रकृति एक है या वे दोनों भिन्न हैं?

पु : आपने यह भी कहा है कि आप इन दोनों को पर्यायवाची मानते हैं।

कृ : पर्यायवाची, हां।

पु : परंपरा द्वारा और आपके द्वारा इस शब्द 'चेतना' के प्रयोग में यह फर्क है कि परंपरावादी, चेतना में उसे भी शामिल करते हैं जो इस सीमित की परिधि के परे हो।

कृ : ओहो, तो वे इस तरह से प्रयोग करते हैं; ऐसा?

पु : ऐसा लोगों ने मुझे बताया है। यह अर्थभेद की समस्या है और मैं सोचती हूँ कि इसकी चर्चा जरूरी है।

मॉरिस फ्रीडमैन (मॉ फ्री) : मस्तिष्क तो केवल कोशिकाओं का झुंड है, कोशिकाओं का जंगल; और प्रत्येक कोशिका आत्मनिर्भर होती है। मस्तिष्क की प्रत्येक कोशिका स्वयं से जी सकती है। तो क्या हमारी चेतना कुल मिलाकर विभिन्न कोशिकाओं की चेतनाओं का जोड़ है, या इसमें कोई पहचान तत्त्व भी है? क्या यह एक नतीजा मात्र है?

कृ : असली मुद्दे पर आइए।

मॉ फ्री : एक तो यह प्रश्न है। दूसरा, क्या है पहले और क्या बाद में? चेतना पहले है और फिर मस्तिष्क, या पहले मस्तिष्क आता है, फिर चेतना?

कृ : एक ही बात है।

मॉ फ्री : अब विशुद्ध तर्क की दृष्टि से, चेतना का अस्तित्व पहले है, चूंकि हम मस्तिष्क को चेतना मानकर चलते हैं। इसलिए चेतना प्रथम है।

कृ : चेतना शब्द से आपका क्या आशय है? हम नये सिरे से आरंभ करते हैं। इसका अर्थ क्या है?

मॉ फ्री : वह जो वर्तमान में है।

पु : वह बहुत ही सीमित है, वही अर्थ हमने इसे दे रखा है।

कृ : हम आहिस्ता चलेंगे। चेतना है क्या, किसी के प्रति सचेत होना?

मॉ फ्री : दोनों का आशय 'मैं' और प्रस्तुति से है।

कृ : मुझे इस बारे में स्पष्ट होना है कि हम दोनों उस शब्द के अर्थ को ठीक से समझ रहे हैं। हम माइक्रोफोन के प्रति सचेत हैं।

मॉ फ्री : आप कहीं और चले गए। आप जिसकी बात कर रहे हैं, वह तो एक छोटी सी बात है।

कृ : चेतना क्या है, सर?

मॉ फ्री : आप इसके प्रति सचेत हैं (माइक्रोफोन की ओर इशारा करते हुए)।

कृ : मेरा कहना भी, बस यही है।

मॉ फ्री : किसी भी माइक्रोफोन के प्रति सचेत होने की बात नहीं।

कृ : नहीं। मैं इसके प्रति सचेत हूँ, पर तब मैं माइक्रोफोन शब्द का इस्तेमाल करता हूँ।

मॉ फ्री : पर वह तो पहचान-परिज्ञान के बाद की अवस्था है।

कृ : जी हां, बिल्कुल। तो केवल, उसके प्रति सचेत होने की अवस्था है; तत्पश्चात नामकरण शुरू होता है, और तब पसंदगी और नापसंदगी आ जाती हैं ।

मॉ फ्री : सबसे पहले तो हमें बोध होना चाहिए, फिर नामांकन होता है।

कृ : तो चेतना का अर्थ है 'किसी चीज के प्रति सजग होना'।

मॉ फ्री : संवेदनाओं के प्रति सजग होना।

कृ : तो 'किसी के प्रति सजग होना, सचेत होना'। संपर्क, बोध, संवेदन और विचार। ठीक।

अच्युत पटवर्धन (अ प) : मुझे लगता है कि चेतना संवेदन के पहले से है। यह एक क्षेत्र है, और किसी एक समय में संवेदन के ज़रिये इसके कुछ हिस्से का मुझे भान होता है। परंतु मुझे दिखता है कि क्षेत्र बहुत ही बड़ा है। मैं देखता हूँ कि जब मैं सचेत हूँ, मेरी सजगता उस पूरे विस्तार के किसी एक हिस्से के प्रति ही है। वह पूरा क्षेत्र मेरी सजगता के अंतर्गत नहीं है। तो मैं चेतना को केवल वहाँ तक ही सीमित नहीं रखना चाहता हूँ जितनी वह मेरी सजगता के क्षेत्र में है, इसलिए कि मेरी सजगता का भी कोई बँधा-बँधाया आयाम नहीं है। सजगता बदल सकती है; किसी भी प्रदत्त पल में, हो सकता है मेरी सजगता उस पूरे क्षेत्र के प्रति न हो। तो मुझे लगता है कि चेतना को उससे कहीं अधिक विस्तीर्ण माना जा सकता है जितना मेरा फोकस है।

कृ : मैं समझ रहा हूँ। तो प्रश्न यह है 'उस चेतना और मस्तिष्क की कोशिकाओं के बीच क्या संबंध है?' पुपुल ने चेतना शब्द का इस्तेमाल किया है।

मॉ फ्री : सबसे पहले आप उनसे चेतना शब्द को, जिस अर्थ में उसे वह लेती हैं, परिभाषित करने को कहें, बजाय तुरंत इसकी तत्त्वमीमांसा में उतरने के।

कृ : यही बात तो मैं पूछ रहा हूँ।

पु : चेतना शब्द का मैं क्या अर्थ लेती हूँ, बात वह नहीं है। कृष्णजी के वार्तालाप में ही, जब आप कहते हैं कि चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है, इसमें यह निहित है कि मस्तिष्क की कोशिकाओं में जो कुछ है, वही चेतना है, क्योंकि ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो मस्तिष्क की कोशिकाओं की अंतर्वस्तु न हो। यदि कोई क्षेत्र है जो मस्तिष्क की कोशिकाओं से बाहर है, और उसे भी चेतना कहा जा रहा हो, तो उसमें आगे अन्वेषण करना होगा और यह कहना होगा...

कृ : ... कि वह सब भी चेतना है।

पु : ... वह सब भी चेतना है। तब आप यह नहीं कह सकेंगे कि चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है।

कृ : ठहरिए एक मिनट के लिए। क्या यह स्पष्ट है? मैंने कहा है कि चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है।

मॉ फ्री : वह सब कुछ जो हम चेतना के बारे में जानते हैं।

अ प : 'चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है' यह वक्तव्य बोधकर्ता के बावजूद, या उससे असंबद्ध है। यह वक्तव्य चेतना के बारे में है। यह आपकी चेतना, मेरी चेतना या उसकी चेतना नहीं है। चेतना की अंतर्वस्तु ही चेतना है।

कृ : ठीक बात है। अतः उस चेतना के क्षेत्र से बाहर कोई अंतर्वस्तु नहीं है।

पु : जैसे ही आप कहते हैं 'चेतना के क्षेत्र से बाहर', तो आपने एक ऐसी अवस्था को भी व्यक्त कर दिया जिसका अस्तित्व, हो सकता है हो...

कृ : ... या नहीं हो।

मॉ फ्री : सरल शब्दों में कहें तो आपका कहना है : क्या अज्ञात चेतना का एक हिस्सा है?

कृ : यही बात है, बस। बहुत सरल। बढ़िया। इसके साथ रहिए। क्या अज्ञात चेतना का एक हिस्सा है, चेतना जो कि अंतर्वस्तु है?

पु : इसी मसले पर मैं सच में चर्चा करना चाहूंगी। कृष्णजी 'चेतना' का एक खास अंदाज में प्रयोग करते हैं। कृष्णजी के दृष्टिकोण में और वेदांत में एक विशेष फर्क है, जैसा कि मैंने समझा है। वहां चेतना उसे माना गया है, जो अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व में आने से पहले ही अस्तित्व में है।

कृ : जी नहीं, नहीं...

अ प : परंपरागत दृष्टिकोण यही है, जैसा कि मैंने समझा है।

पु ज : बौद्ध परंपरा में नहीं।

अ प : हां, हमें वेदांतवादी के मंतव्य को भी लेना चाहिए।

कृ : आपको वेदांत की स्थिति भी बतलानी; होगी मुझे इसका कोई अंदाजा नहीं।

अ प : मूलतः, अस्तित्व के स्रोत में एक वृहद्, अबोधगम्य ऊर्जा है जिसे वे चैतन्य कहते हैं। चैतन्य ही ऊर्जा का स्रोत है। चित् ही जीवन है, जीवनशक्ति। तो यह एक दृष्टिकोण है। बौद्धों का इस विषय में कुछ भी कहना नहीं है।

कृ : ठीक बात है।

अ प : वे एक भी शब्द कहने से इनकार करते हैं। इसीलिए बौद्ध मत के आधार पर पुपुल जी के प्रश्न का उत्तर हम नहीं दे पाएंगे क्योंकि बौद्ध खुद इस बारे में कुछ नहीं कहते। उसके बारे में कुछ भी कहना अनुमान मात्र ही होगा; और वे कहते हैं कि अटकलबाजी की प्रक्रिया, प्रत्यक्ष बोध का माध्यम नहीं बन सकती।

कृ : और इसलिए चेतना की अंतर्वस्तु उस अनुमान का ही हिस्सा हुआ।

अ प : इसलिए वे कहते हैं कि हम अपने को 'जो है' उसी तक ही सीमित रख सकेंगे।

कृ : क्या यह सही होगा? जैसा कि हमने कल कहा, अज्ञान का कोई आरंभ नहीं है, पर उसका अंत है। अज्ञान की शुरूआत की पूछताछ न करें।

Don't be corrupt...

Krishnamurti (K) : There is no sanity in the political world, in the religious world, in the economic world, there is no sanity. I am just pointing out to you, whether you are grown up, or leaving this marvellous valley, or staying here for another two, four years, don't be corrupt, inside, don't seek vanity, pride, don't say, 'I am superior to somebody else'. You know you learn a great deal when there humility. You know the word 'humility'? You learn a great deal if you are really humble. But if you are merely seeking success, money, money, money, power, position, status, you understand, then you are beginning with corruption. You might be poor; be poor, who cares. That's why it is important for you, for all of you, to find your own talent and stick to it even though it doesn't bring you success, fame, and all that, which is all nonsense anyhow because we are all going to die. You understand, old boy? While you live, live, not with all the rubbish that is going on.

Student (S) : Sir, why don't people realise this?

K : Because they don't think, they don't feel, they are thinking about themselves all the time, their job, their administration, their work. You understand? They are not interested in this. But if you are...

S : How do you stop being selfish?

K : How do you stop being selfish. Don't be selfish. Just listen. Don't ever ask anybody, 'how?'. You understand? Then they will tell you how, then you are lost. That is the biggest corruption.

—Rishi Valley, 20 Dec. 1980

भ्रष्ट, बेईमान न हों...

कृष्णमूर्ति (कृ) : राजनीतिक जगत में, धार्मिक जगत में, आर्थिक जगत में, कहीं भी संतुलन, समझदारी नहीं है। मैं महज़ इस तरफ इशारा कर रहा हूँ, आपके लिए, चाहे आप वयस्क हों, या इस शानदार वादी को छोड़ कर जाने वाले हों, या फिर दो-चार साल अभी यहाँ रुकने वाले हों, आप भ्रष्ट, बेईमान न हों—भीतर से; और दिखावा, घमंड, अकड़, इनके फेर में न पड़ें, यह न कहें कि आप किसी और से बेहतर हैं। जब विनम्रता होती है तो हम कितना कुछ सीख लेते हैं। 'विनम्रता' शब्द से परिचित हैं न आप? अगर आप सच में विनम्र होते हैं तो आप बहुत कुछ सीख पाते हैं। लेकिन अगर आप कामयाबी के ही पीछे दौड़ रहे हैं, पैसा, पैसा, पैसा, ताकत, पद, प्रतिष्ठा—समझ रहे हैं आप?—तो आपमें भ्रष्टता की, बेईमानी की शुरूआत हो जाती है। हो सकता है आप गरीब हों, तो रहें गरीब, क्या फर्क पड़ता है! इसी वजह से, यह आपके लिए, आप सब के लिए महत्त्वपूर्ण है कि आप खुद अपने हुनर को ढूँढ़ें और रहें उसके साथ, जिएं उसके साथ, भले ही सफलता मिले न मिले, प्रसिद्धि मिले न मिले, जो सब बकवास ही तो है, क्योंकि एक दिन तो हम सभी ने मर जाना है। समझे, दोस्त? जब आप जी रहे हैं तो जिएं, लेकिन इस तमाम कूड़े-करकट के साथ नहीं जो चलन में है।

विद्यार्थी : सर, लोगों को इस बात का एहसास क्यों नहीं होता?

कृ : क्योंकि वे सोचते ही नहीं, महसूस ही नहीं करते, सारा वक्त बस खुद के बारे में सोचा करते हैं—उनके नौकरी-धंधे, देख-रेख की ज़िम्मेदारियां, उनका काम; समझ रहे हैं? उनकी दिलचस्पी इसमें है ही नहीं। लेकिन अगर आपकी दिलचस्पी है...

विद्यार्थी : स्वार्थी होने से कोई कैसे बचे?

कृ : “स्वार्थी होने से कोई कैसे बचे?” आप स्वार्थी न हों। सुनिये, सुनिये तो! कभी किसी से मत पूछिए : “कैसे?”, समझे आप? तब तो वे आपको बताने लगेंगे कि ‘कैसे’, और आप भटक जाएंगे। और वही है सबसे बड़ा भ्रष्टाचार।

अनुवाद : अरविंद शुक्ल

अ प : सही बात है। बहुत खूब, बहुत खूब।

कृ : परंतु उसका अंत कैसे हो, इसका पता लगाएं। यह बात ठीक है, यह अच्छा बिन्दु है। इसी के साथ टिका जाए।

अ प : यह अद्भुत बिंदु है। हमें इसी क्षण कुछ स्पष्ट हुआ है।

कृ : सही है। अच्छा बिंदु है।

मॉ फ्री : बौद्धों का कहना है कि चेतना जैसा कोई तत्त्व नहीं है, परंतु चेतना की अवस्थाएं होती हैं, चेतना के अणुओं की अवस्थाएं।

कृ : जी हां।

मॉ फ्री : और इन अवस्थाओं का क्रम ही चेतना है।

कृ : तो अब शुरू करते हैं। अज्ञान का कोई आरंभ नहीं; अज्ञान का अंत होना संभव है। अज्ञान के आरंभ की जांच-पड़ताल हम न करें क्योंकि वह अटकलबाजी भर होगी, समय की बरबादी मात्र। पर क्या अज्ञान का अंत संभव है? और यह अज्ञान है चेतना; ठीक?

मॉ फ्री : चेतना अज्ञान है, इस दृष्टिकोण की तहकीकात करनी होगी, क्योंकि यह बात उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि पिछली।

कृ : नहीं, नहीं।

अ प : हम जो कह रहे हैं पूरी तरह से तथ्यात्मक बात है।

मॉ फ्री : ठीक यही तो अद्वैतवादी भी कहते हैं।

कृ : मुझे नहीं पता अद्वैतवादी क्या कहते हैं?

मॉ फ्री : वे वही कहते हैं जो आपने अभी कहा : वह अज्ञान, वही चेतना चारों ओर विद्यमान है; देखना, सुनना, सूँघना, छूना, चाहना, नहीं चाहना, महसूस करना; यही चेतना, जो हमारे लिए हर समय मौजूद है, वही हमारी सजगता का भी रूप है।

कृ : नहीं, नहीं।

अ प : मेरी समझ में अद्वैतवादियों की दृष्टि कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि वह स्रोत, जिसे आप अज्ञान कह रहे हैं, उसका

स्वभाव चित् और आनंद का है। अर्थात्, यह स्रोत, जिसे आप अज्ञात कहते हैं, उसका स्वभाव परमानंद है और यह सतत स्वयं को पुनर्नवा, फिर-फिर नया करता रहता है। यह परिवर्तनशील प्रवाह है, परंतु यह प्रवाह निरंतर अस्तित्व में रहता है और यह पूरी प्रक्रिया—जन्म, बढ़ना, और मृत्यु इसमें सम्मिलित है। अतः, उस स्रोत की प्रकृति जहां से इस ब्रह्मांड का उदय होता है, जहां से सारा कुछ अस्तित्व में आता है, वह यही है; वे ऐसा कहते हैं। चूंकि आपको इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं है तो आप इसे अज्ञान कह सकते हैं। पर यह अज्ञान है नहीं, क्योंकि इस विश्व का जन्म इससे नहीं हुआ है। वे कहते हैं कि संसार का उद्गम वहां से हुआ है जो सत् है, जो कि यथार्थ है, अपने साररूप में; और चित् है जो कि सृजनशीलता है, और आनंद है भावविभोर आह्लाद। तो यहां पर शायद फिर अर्थगत अंतर है। मैं तो केवल दोनों दृष्टियों को साथ-साथ रख रहा हूँ।

कृ : समझ रहा हूँ।

अ प : जो व्यक्ति बौद्ध मत को नहीं स्वीकार करता हो, वह आपके कथन को तुरंत स्वीकार नहीं कर पाएगा।

पु : चेतना के बारे में, या दूसरे विषय में?

अ प : यह कि अज्ञान की यह एक स्वयं को कायम रखने की प्रक्रिया है जिसकी शुरुआत का तो आप पता नहीं लगा सकते परंतु जिसका अंत किया जा सकता है।

कृ : ठीक।

अ प : मैंने दोनों दृष्टिकोणों को रखा है, पर मैं यह नहीं कहना चाहूंगा कि वे टकराव की स्थितियों में है। मैं बस यह कहना चाह रहा हूँ कि ये दो भिन्न वक्तव्य है जो परंपरावादियों द्वारा दिये गये हैं।

कृ : परंपरावादियों को, अद्वैत, वेदांत को, न जानते हुए हम बस यह कह रहे हैं कि अज्ञान का कोई आरंभ नहीं। यह हम खुद

में देख सकते हैं। और इसका अंत भी किया जा सकता है। बस यह बात है। और यह चेतना इसी क्षेत्र के दायरे में है।

पु : यदि चेतना इसी क्षेत्र के दायरे में है, तो मस्तिष्क की कोशिकाओं के अलावा—जो इससे जुड़ी स्मृतियों को सँजोए हुए हैं—क्या इसका कोई और वजूद है ?

कृ : जी हाँ, सही है।

पु : विज्ञान का दृष्टिकोण यह है कि मस्तिष्क की कोशिकाएं और उनकी गतिविधियां तो मापनीय हैं, परंतु चेतना को मापा नहीं जा सकता; अतः ये दोनों समानार्थी नहीं हैं।

कृ : यह बात है।

पु : हो सकता है यह विज्ञान का मत नहीं भी हो, पर ऐसा मुझे बताया गया था।

कृ : आप कह रही हैं कि चेतना परिमेय है।

अ प : मस्तिष्क की कोशिकाएं और उनकी गतिविधियां परिमेय है। परंतु चेतना अपरिमेय है।

कृ : मैं समझ रहा हूँ।

अ प : जब आप विशालतम विद्युत टेलीस्कोप से देखते हैं, तो आप ब्रह्मांड के विस्तार को उतनी दूर तक देख पाते हैं जहाँ तक कि वह यंत्र दिखा सकता है। परंतु आपको यह पता है कि यदि इससे भी बड़ा यंत्र मिले तो आप और बड़ी चीज़ देख पाएंगे। इस अर्थ से, हालांकि आप मापन कर पा रहे हैं, फिर भी आपको पता है कि आपका मापन उस यंत्र के सापेक्ष है जिससे आप देख रहे हैं।

कृ : ठीक, ठीक।

अ प : उस मायने में यह एक सापेक्ष तत्त्व है।

कृ : ज़ाहिर है।

अ प : उसी अर्थ में, चेतना भी...

कृ : परिमेय है।

अ प : अपरिमेय है। इस अर्थ में कि जब हम कहते हैं कि विद्युत टेलीस्कोप यह साबित करता है कि विश्व का जो मापन आपको उपलब्ध है वह विश्व का मापन नहीं है : वह तो उस यंत्र का मापन है। ठीक उसी तरह, चेतना भी कुछ ऐसा तत्त्व है जिसके बारे में हम नहीं जानते कि यह परिमेय है या अपरिमेय है। जब आप एक माप का इस्तेमाल करते हैं, तो आप अपने उस यंत्र का ही मापन कर रहे होते हैं। इसीलिए चेतना के संदर्भ में भी वे कुछ कहने के लिए तैयार नहीं हैं, इसके सिवाय कि कोई भी यंत्र जिससे आप मापन करेंगे, हो सकता है वह आपके उस यंत्र का ही मापन हो; इसलिए आप ऐसा नहीं कह सकते कि यह चेतना का मापन है।

कृ : सही है। तो चेतना परिमेय नहीं है। विद्युत टेलीस्कोप उसी यंत्र के अनुसार ब्रह्मांड को दर्शाती है। और यदि चेतना को मापने की खातिर कोई यंत्र होता, तो वह मापन भी उस यंत्र पर ही निर्भर करेगा। तो यंत्र बड़ा या छोटा हो सकता है; उस यंत्र के मुताबिक ही तो आप चेतना को माप पाएंगे। बस यही बात है। अब अगला प्रश्न क्या है?

मॉ फ्री : अगला प्रश्न है : यह होता कैसे है? ठंडी हवा से भरी एक सुई जिसे आपके मस्तिष्क में लगा दिया जाता है जो बुनियादी तौर पर चेतना को बदल देती है। या एक विद्युत उद्दीपन इसमें बुनियादी तौर पर बदलाव ले आता है।

कृ : बुनियादी तौर पर नहीं, वह उस प्रारूप को बदल देता है, पर वह अब भी ज्ञात के क्षेत्र के भीतर ही होता है।

मॉ फ्री : आप कैसे जान सकते हैं?

कृ : यह हमेशा ज्ञात के क्षेत्र में ही होगा।

मॉ फ्री : परंतु यह पहले तो वहाँ नहीं था।

कृ : एक मिनट। पुपुल यह पूछ रही हैं : चेतना, जैसा कि हम इसे जान पाये हैं—इसकी अंतर्वस्तु और वह सब—उसके बाहर

क्या कोई चेतना है, क्या ऐसी कोई अवस्था है जो अपरिमेय है, जो इस चेतना का भाग नहीं है?

पु : क्योंकि चेतना और मस्तिष्क की कोशिकाओं के संदर्भ में, इंद्रियां ही इनके यंत्र हैं। चेतना का मापन होगा इंद्रियों के ज़रिये। जब आप एक विस्तीर्ण चेतना की बात करते हैं, तो उसका भी संदर्भ वही होगा। क्या कोई अवस्था है.....

कृ : जो अज्ञेय है, जिसे जाना नहीं जा सकता?

पु : जिसे मस्तिष्क की कोशिकाओं के अंतर्गत पहचाना नहीं जा सकता, जाना नहीं जा सकता, पाया नहीं जा सकता?

कृ : बिल्कुल यही बात है, सही है। आप समझ गईं?

मॉ फ्री : हां। इसमें मेरी रुचि क्यों होनी चाहिए?

कृ : आपको रुचि हो?

मॉ फ्री : हाँ, क्योंकि आप कहते हैं कि यह अज्ञेय है।

कृ : अज्ञेय इस अर्थ में कि इसे पहचाना नहीं जा सकता।

मॉ फ्री : यानी कि कुछ नया।

कृ : कुछ ऐसा जो पूरी तरह से नया हो।

अ प : मैं इनके बीच का जो कदम है, उसकी बात पर आ रहा हूँ। हम जानते हैं कि चेतना समस्त प्रजातीय स्मृतियों का और मनुष्य की संपूर्ण स्मृतियों का स्रोत ही है। यह बीच का कदम है। मॉरिस के प्रश्न का जवाब मैं दे रहा हूँ; उन्होंने कहा कि मस्तिष्क की कोशिकाएं हर उस चीज़ को पहचान लेंगी जो कुछ भी प्रजातीय, रेशियल स्मृतियों में से, मनुष्य के अतीत-क्षेत्र में से आ रहा है।

कृ : ज्ञात के क्षेत्र में से।

पु : ज्ञात के दस लाख सालों में से।

अ प : दस लाख साल, जो कुछ भी उनमें हुआ हो। यहाँ तक कि जंगल में रहने वाले आदिमानव की सबसे प्रारंभिक स्मृतियों को भी याद कर पाने में मस्तिष्क समर्थ हो सकता है।

कृ : इसे एकदम सरल रखें। हमने कहा कि ज्ञात ही चेतना है। ज्ञात की अंतर्वस्तु चेतना है। क्या इसके परे भी कुछ है जो नहीं जाना गया है, जो बिल्कुल नया है? और क्या वह पहले से ही मस्तिष्क की कोशिकाओं में मौजूद है; और यदि इसका वजूद ज्ञात से बाहर है, तो क्या उसे पहचाना जा सकता है, वह अनुभवगम्य है? यदि उसे अनुभव किया जा सकता है तो वह अज्ञात नहीं है; यदि पहचाना जा सकता है, तो वह ज्ञात के क्षेत्र में ही है।

मॉ फ्री : क्या वह उपलब्ध है अथवा नहीं?

कृ : वह उपलब्ध केवल तब है, जब पहचानने और अनुभव करने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

-‘एक्स्प्लोरेशन एंड इनसाइट’ से
अनुवाद : हेमा राव

अंतर्दृष्टि और कर्म

कृष्णमूर्ति (कृ) : यदि हो सके तो मैं इस प्रश्न की पड़ताल करना चाहूंगा— अन्तर्दृष्टि कैसे घटित होती है? यदि यह विचार की प्रक्रिया नहीं है, तो क्या है उस मन की खासियत या उस अवलोकन का गुणधर्म, जिसमें विचार प्रवेश नहीं करता? और चूंकि विचार प्रवेश नहीं करता, आप अन्तर्दृष्टि पा जाते हैं। हमने कहा था, अन्तर्दृष्टि सम्पूर्ण होती है। यह विचार की तरह विखंडित नहीं होती है। तो विचार के ज़रिये अंतर्दृष्टि नहीं लाई जा सकती।

डेविड बोह्रम (डे बो) : विचार अन्तर्दृष्टि को सम्प्रेषित कर सकता है। यह कुछ डेटा, कुछ विवरण संप्रेषित कर सकता है जो आपको अंतर्दृष्टि की दिशा में ले जाए। मिसाल के तौर पर लोगों ने आपको धर्म इत्यादि के बारे में बताया है, किंतु अंततः अन्तर्दृष्टि उस पर निर्भर करती है जो विचार नहीं है।

कृ : तो फिर वह अन्तर्दृष्टि आती कैसे है? क्या यह विचार का समाप्त होना है?

डे बो : ऐसा माना जा सकता है।

कृ : विचार खुद महसूस करता है कि एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें वह प्रवेश नहीं कर सकता। अर्थात् विचारक ही विचार है, द्रष्टा, अनुभवकर्ता और जो कुछ भी; और विचार खुद महसूस कर लेता है, इसके तई जागरूक हो जाता है कि वह एक सीमित दायरे के अंदर ही कार्य कर सकता है।

डे बो : क्या इसके लिए भी अन्तर्दृष्टि की दरकार नहीं है? इससे पहले कि विचार यह महसूस कर पाए, अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक होगा।

कृ : बिलकुल ऐसा ही है। क्या विचार को यह एहसास हो पाता है कि अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक है?

डे बो : पता नहीं; किंतु मैं कह रहा हूँ कि इससे पहले कि विचार कुछ भी महसूस कर पाए, विचार की प्रकृति के बारे में अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक है। क्योंकि मुझे लगता है कि विचार खुद-ब-खुद इस तरह की कोई चीज़ महसूस नहीं कर सकता।

कृ : हां।

डे बो : लेकिन किसी तरह, सत्य विचार पर, वास्तविकता पर कार्य कर सकता है, ऐसा हमने कहा था।

कृ : सत्य वास्तविकता के क्षेत्र पर कार्य कर सकता है। अब, हमारा मन सत्य को कैसे देख पाता है? क्या यह एक प्रक्रिया है?

डे बो : आप पूछ रहे हैं कि क्या देखने की कोई प्रक्रिया होती है? प्रक्रिया कोई नहीं है; प्रक्रिया तो समय होगी।

कृ : यह सही है।

डे बो : चलिए हम इस बिंदु पर गौर करें कि एक अंतर्दृष्टि घटित होती है विचार की प्रकृति के बारे में, इस बारे में कि द्रष्टा ही दृश्य है इत्यादि।

कृ : बेशक।

डे बो : अब एक अर्थ में विचार को उस अन्तर्दृष्टि को स्वीकार करना होगा, उसे क्रियान्वित करना होगा, उसका प्रत्युत्तर देना होगा।

कृ : या वह अन्तर्दृष्टि इतनी सजीव, इतनी ऊर्जापूर्ण, जीवंतता से इतनी लबालब होगी कि वह विचार को उस तरह क्रियाशील होने के लिए बाध्य कर देगी।

डे बो : ठीक, तो क्रियाशील होने की अनिवार्यता है।

कृ : हां, अनिवार्यता है।

डे बो : लेकिन ऐसा है कि अगर आमतौर से हम देखें तो उसमें उतनी जीवंतता नहीं होती। किसी न किसी स्तर पर विचार उस अन्तर्दृष्टि को अस्वीकार कर देता है।

कृ : अधिकांश लोगों को अन्तर्दृष्टि मिलती है, किंतु आदत इतनी प्रबल होती है कि वे उस अंतर्दृष्टि को अस्वीकार कर देते हैं।

डे बो : मैं इसकी तह में जाने की कोशिश कर रहा हूँ, यह देखने के लिए कि क्या हम इस अस्वीकृति को भेद सकते हैं, ध्वस्त कर सकते हैं।

कृ : उस अस्वीकृति से, उस आदत से, उस संस्कारबद्धता से हम मुक्त हो सकें, जो अन्तर्दृष्टि में बाधा डालती है। अंतर्दृष्टि पा लेने पर भी, संस्कारबद्धता इतनी प्रबल होती है कि आप उस अंतर्दृष्टि को अस्वीकार कर देते हैं। यही तो होता है।

डे बो : मैंने शब्दकोश में आदत शब्द को देखा और वहां कहा गया है, “मन की एक दृढ़ हो चुकी वृत्ति” जो बहुत उपयुक्त लगता है। मन का एक खास रुझान बन जाया करता है, जो परिवर्तन का प्रतिरोध करता है। अब हम लौट कर उसी प्रश्न पर आ जाते हैं—हम उस “अत्यंत दृढ़ वृत्ति” को कैसे भंग करें?

कृ : मुझे नहीं लगता कि आप उसे तोड़ सकते हैं, मुझे नहीं लगता कि विचार उसे तोड़ सकता है।

डे बो : हमारी मांग उस सघन अन्तर्दृष्टि की है जो अनिवार्य रूप से आदत को विसर्जित कर दे।

कृ : सार-संक्षेप में कहें तो : सत्य और वास्तविकता के संदर्भ में अंतर्दृष्टि होती है; अब उस व्यक्ति के दिमाग का एक खास तरह का रुझान बना हुआ है, उसने वास्तविकता के संसार में आदतें बना ली हैं—वह उन्हीं में रहता है।

डे बो : वह ढांचा पक्का और बेलोच है।

कृ : मान लीजिए आप आते हैं और इसके बेलोचपन की तरफ इशारा करते हैं। जो आप कह रहे होते हैं, मैं उसकी एक झलक

पा लेता हूँ—जो विचारणा नहीं है—और मैंने उसे देख लिया होता है।

डे बो : झलक भर में ही।

कृ : झलक भर में। किंतु मेरी संस्कारबद्धता इतनी प्रबल है कि मैं उस देखने को अस्वीकार कर देता हूँ।

डे बो : मैं जानबूझकर ऐसा नहीं करता हूँ, ऐसा बस हो जाता है।

कृ : ऐसा इसलिए हो जाता है क्योंकि आपने उसके हो जाने में सहायता की होती है। पहली बात तो यह कि क्या वह अन्तर्दृष्टि, इस संस्कारबद्धता को विसर्जित करने हेतु यथेष्ट प्रबल है? यदि वह उतनी अधिक प्रबल नहीं है, तो यह सब चलता रहता है। क्या यह संस्कारबद्धता विसर्जित हो सकती है? बात ऐसी है कि संस्कारबद्धता में अंतर्दृष्टि पाना ज़रूरी है, अन्यथा मैं इसे विसर्जित नहीं कर सकता।

डे बो : शायद हम इसे इस तरह से देख सकते हैं—संस्कारबद्धता एक वास्तविकता है, एक बिलकुल ठोस वास्तविकता, जो मूल रूप से वही है जिसके बारे में हम सोचते हैं।

कृ : हां।

डे बो : जैसा कि पिछले संवाद में हमने कहा था, यह यथार्थ है। सामान्यतः वास्तविकता केवल वही नहीं होती जिसके बारे में मैं सोच रहा होता हूँ, बल्कि यह कुछ हद तक यथार्थ के, असलियत के साथ भी मेल खा जाती है—असल तथ्य के साथ। और वही उसकी वास्तविकता का प्रमाण होता है। अब, पहली नज़र में ऐसा लगता है कि यह संस्कारबद्धता, और अधिक नहीं तो उतनी ठोस तो है, जितनी कि कोई भी वास्तविकता।

कृ : बल्कि कहीं अधिक ठोस। क्या यह संस्कारबद्धता किसी के ज़रिये समाप्त होती है, विसर्जित होती है?

डे बो : वैसा नहीं होगा, क्योंकि सोच तो जो है सो है।

कृ : तो सोच-विचार इसे तिरोहित नहीं करेगा। तो ऐसा किसके द्वारा होगा?

डे बो : हम फिर वहीं वापिस लौट आये हैं। हम देखते हैं कि ऐसा सिर्फ सत्य द्वारा, अंतर्दृष्टि द्वारा ही हो सकता है।

कृ : मुझे लगता है कि कुछ घटित होता है। मैं देखता हूँ कि मैं संस्कारग्रस्त हूँ और मैं अपने आप को उस संस्कारबद्धता से पृथक् कर लिया करता हूँ, मैं अपने को उस संस्कारबद्धता से भिन्न समझ रहा होता हूँ। और आप आ कर कहते हैं, “नहीं ऐसा नहीं है, बल्कि द्रष्टा ही दृश्य है, देखने वाला ही वह है जिसे वह देख रहा है”। यदि मैं देख पाऊँ या यह अंतर्दृष्टि पा सकूँ कि द्रष्टा ही दृश्य है, तो संस्कारबद्धता विसर्जित होना शुरू हो जाती है।

डे बो : क्योंकि वह ठोस नहीं है।

कृ : संस्कारबद्धता का प्रत्यक्ष बोध ही उसकी समाप्ति है। सत्य तभी अस्तित्व में आता है जब यह बोध हो जाता है कि द्रष्टा ही दृश्य है। तब उस बोध में, जो कि सत्य है, संस्कारबद्धता लुप्त हो जाती है।

‘दुथ एंड एक्चुएलिटी’ से

अनुवाद : उमेश मोहन सकलानी

‘वस्तुओं’ पर ध्यान लगाना पागलपन की ओर ले जा सकता है

चालीस के दशक के मध्य में कृष्णमूर्ति और हक्सली करीबी दोस्त बन गए थे। वे अक्सर मिला करते और लंबी सैरों पर जाया करते। हक्सली बातें करते और कृष्णमूर्ति उन्हें सुनते। हक्सली हैरान थे; उनकी अदम्य बुद्धि के लिए कठिन था कृष्णमूर्ति के ऐसे लचीले मस्तिष्क की क्षमता को समझना जो प्रत्यक्ष बोध से जन्मा था और ज्ञान से अछूता और निष्कलंक था। परिणामस्वरूप, जब कृष्णमूर्ति प्रत्यक्ष बोध, समय और सजगता की बात करते, तब हक्सली ने ध्यानपूर्वक सुनना और मौन रहना सीख लिया। यह ज़ाहिर है कि हक्सली कृष्णमूर्ति के मस्तिष्क में रुचि रखते थे। एक दिन सैर के दौरान उन्होंने कृष्णमूर्ति से कहा कि सत्य के एक सीधे प्रत्यक्ष बोध के लिए वह कुछ भी दे देंगे, लेकिन उनके मस्तिष्क में इस बोध की क्षमता ही नहीं है; वह जानकारी से लबालब भरा हुआ है। क्रिस्टोफर इशरवुड ने हक्सली के साथ हुई एक बातचीत का ज़िक्र किया है। इशरवुड हक्सली से अपने गुरु स्वामी प्रभवानंद द्वारा ध्यान लगाने संबंधी निर्देशों की बात कर रहे थे, “और इस पर ऑल्डस ने यह टिप्पणी की कि कृष्णमूर्ति कभी कमल, ज्योति, देवी-देवताओं जैसी ‘वस्तुओं’ पर ध्यान नहीं लगाते थे, और उनका मानना था कि ऐसा करना पागलपन की ओर ले जा सकता है।”

हक्सली और जेराल्ड हर्ड के साथ अपने संबंध को याद करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं, “मैं बहुत ही संकोची था। वे सब जाने-माने बुद्धिजीवी थे। मैं उन्हें सुनता था, उनके एक या दो कथनों पर कुछ बोल दिया करता था।” कृष्णमूर्ति और हक्सली के बीच का पत्राचार, और हक्सली द्वारा अपने जीवन के उस दौर पर लिखे गये नोट्स उनके अन्य लेखन के साथ घर में लगी आग में जल कर नष्ट हो गये। बाद में, हक्सली ने कृष्णमूर्ति की पुस्तक ‘प्रथम और अंतिम मुक्ति’ का प्राक्कथन लिखा था। 1961 में, अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले, हक्सली ने स्विट्ज़रलैंड में स्थित ज्ञानेन में कृष्णमूर्ति की वार्ता सुनी। अपने एक मित्र को भेजे पत्र में हक्सली ने इस वार्ता का वर्णन करते हुए लिखा, “आज तक सुने

सर्वाधिक प्रभावशाली वक्तव्यों में से एक...उन्हें सुनना बुद्ध को सुनने सरीखा है—ऐसी शक्ति, ऐसा अंतरस्थ प्रामाण्य; सामान्य, विषयोन्मुख मनुष्य को किसी भी प्रकार के पलायन, किसी विकल्प, गुरु, मुक्तिदाता, लीडर, चर्च—किसी का भी सहारा लेने देने से इनकार, इस बारे में किसी भी तरह का समझौता किए बगैर। ‘मैं आपको बता रहा हूँ दुख के बारे में, तथा उसके अंत के बारे में और यदि आप दुख के अंत के लिए ज़रूरी शर्तों को पूरा नहीं करते हैं, तब आप चाहे जिस गुरु, चर्च वगैरह में विश्वास क्यों न रखते हों, अनिश्चित काल तक दुख के बने रहने के लिए तैयार रहिए।’”

कृष्णमूर्ति याद करते हैं, विश्व युद्ध के दौरान, जब वह ओहाइ में थे, तो वह जेराल्ड हर्ड के यहां त्राबुको गये थे—लोस एंजलिस से कुछ मील की दूरी पर स्थित इस ‘रहस्यवादियों के क्लब’ का निर्माण जेराल्ड हर्ड और फेलिक्स ग्रीन ने किया था; फेलिक्स ग्रीन चीनी भाषा और संस्कृति के ब्रिटिश विशेषज्ञ थे एवं भारतीय धार्मिक गवेषणा में भी रुचि रखते थे। जेराल्ड हर्ड ने, जिन्हें क्रिस्टोफर इशरवुड (‘दुनिया के) कतिपय महान जादुई मिथक रचनाकारों और जीवन के अचंभों को उजागर करने वालों में से एक’ बताते हैं, एक रिट्रीट का निर्माण किया था जिसमें एक ध्यान-कक्ष था, जहाँ से प्रशांत महासागर दिखाई पड़ता था। जेराल्ड हर्ड के न्यौते पर कृष्णमूर्ति एक सप्ताह के लिए त्राबुको गए। त्राबुको का वर्णन करते हुए कृष्णमूर्ति ने हमें कहा कि वह किसी ट्रेपिस्ट मठ की तरह लगता था—फर्क इतना था कि यहां लोग एकांत में कुछ समय बिताने के लिए आते थे, न कि ज़िंदगी-भर के लिए कैद हो जाने। दिन में छह बार ध्यान-सत्र होते थे। वहां रहने वालों को सुबह बातचीत और संवाद करने की अनुमति थी, किंतु दोपहर के भोजन के बाद मौन रहना अनिवार्य था। कृष्णजी भी इन ध्यान-सत्रों में शामिल होते, अँधेरे ध्यान-कक्ष में ज़मीन पर पालथी मार कर घंटों बैठते, और उन्हें अपने आस-पास ध्यान में बैठे लोगों के व्यग्र और उत्तेजित विचारों का एहसास होता। उस कक्ष में घना अँधेरा रखा जाता था जिसके पीछे सोच यह थी कि ऐसा करने से सहभागियों के मन को मौन रख पाने में मदद मिलेगी। इस भयावह माहौल और उपस्थित अतिथियों के कोलाहल-भरे, हिंसक विचारों ने कृष्णमूर्ति को बहुत बेचैन किया, और बाद में वह कभी त्राबुको नहीं गये।

—पुपुल जयकर कृत ‘कृष्णमूर्ति अ बायोग्राफी’ से
अनुवाद : भूमिका

हिमालय के खुशनसीब माहौल में संवाद व मंथन

नीचे बहती भागीरथी नदी से लगभग सौ मीटर ऊपर एक मचाननुमा सपाट जगह पर प्रकृति की गोद में बसे रनाड़ी गांव से लगा उत्तरकाशी रिट्रीट सेन्टर।

कार्यक्रम के अनुसार हम सुबह सात बजे जलते अलाव के चारों ओर बैठकर कभी 'के'-ऑडियो सुनने के लिए, कभी थोड़ी देर शांत व मौन रहने से पहले कुछ मिनट संगीत के स्वर सुनने के लिए मिल बैठते थे, हालांकि इसमें कभी भी औपचारिकता नहीं रखी जाती थी, हर कोई अपनी अभिरुचि के अनुसार कुछ और भी कर सकता था। फिर भी, आकर साथ मिलजुल कर बैठ जाना यह बता रहा था कि हम सब की अभिरुचि इस में ही थी।

पुनः 11:00 बजे हम उस चीज़ के लिए एकत्र हो जाया करते थे जो कि इस कार्यक्रम की प्रमुख 'विषयवस्तु' थी, यानी 1975 में 'के' तथा डेविड बोहम के बीच हुआ संवाद। हर एक के हाथ में उस संवाद की किताब रहती थी और उसे पढ़ने के साथ-साथ, या बिना पढ़े भी, हम उस संवाद की रिकॉर्डिंग सुना करते थे। हर एक को स्वतंत्रता थी, और अक्सर ऐसा होता भी था, कि बीच में कोई संकेत करता कि ऑडियो को रोक कर कहीं गई बात पर कुछ चर्चा कर ली जाए। इससे हम सातों लोगों को ऐसा लगता था कि हम उस संवाद से कहीं दूर बैठे इसके श्रोता मात्र नहीं हैं बल्कि इस संवाद में शामिल हैं।

तीसरे या चौथे संवाद में प्रयोग किए गए 'एक्चुअलिटी' (पल-दर-पल का यथार्थ) शब्द को वास्तव में समझने में मदद मिली; ऐसी समझ बन रही थी कि 'रिअलिटी' (वास्तविकता का संसार)—लैटिन में रेस यानी थिंग (वस्तु)—और सच का संसार, मानो दोनों परस्पर विपरीतार्थक हों। या फिर इन दोनों के बीच का संबंध कुछ ऐसा है, 'या तो ये या वो'? यथार्थ क्या है?—जो कुछ भी अब इस वक्त हो रहा है, जो अभी है, जो कुछ भी घट रहा है। बारह संवादों में से ग्यारह संवादों का हमने अध्ययन किया।

15 दिसम्बर को विदा ली हमने, उन खुशनसीब साथियों से जो उस जगह को जीवंत बनाए रखने के लिए वहां ठहरते हैं। और सचमुच, हम भी वैसे ही 'चंद खुशनसीब' लोगों में से थे।

(अंग्रेजी से अनूदित)

—स्टीव

राधा बर्नियर (1923-2013)

श्रीमती राधा बर्नियर का 31 अक्टूबर 2013 को निधन हो गया। वह थियोसॉफिकल सोसाइटी की इंटरनेशनल प्रेसिडेंट होने के साथ ही कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया की एक ट्रस्टी भी थीं। राधा जी का लालन-पालन टी.एस., अड्यार परिसर में ही हुआ था, और इस प्रकार बचपन से ही उन्हें कृष्णमूर्ति का स्नेह उपलब्ध रहा। 60 और 70 के दशक में राधा जी वाराणसी में ही रह रही थीं और राजघाट एजुकेशनल सेंटर से जुड़ी थीं एवं राजघाट एग्जीक्यूटिव कमिटी की सदस्य रहीं। 1980 में वह कृष्णमूर्ति की वार्ताओं के दौरान सानेन में थीं जब उन्हें यह सूचना मिली कि वह टी.एस. की प्रेसीडेंसी का चुनाव जीत गयीं हैं; उनकी इस विजय से कृष्णमूर्ति को प्रसन्नता हुई थी। उस समय वह टी.एस. के एसटेरिक सेक्शन (पराविद्या प्रभाग) की हेड थीं। कृष्णमूर्ति के साथ अनेक संवादों में उनकी महत्त्वपूर्ण सहभागिता रही। पारस्परिक मैत्री तथा स्नेह का यह नाता दोनों में आजीवन बना रहा। कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया द्वारा आयोजित वार्षिक सम्मेलनों में उनकी उपस्थिति हम सब के स्मरण में है। वाराणसी स्थित राजघाट एजुकेशनल सेंटर के सभी अंतेवासी तथा मित्र, राधा जी को सप्रेम श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा